मैं तो सदा आनंद में हूँ। धर्म के संबंध में और जीवन साधना के संबंध में अपने विचार रख के मेरे आनंद का ठिकाना नहीं है। इस कारण मैं पूरे देश में देख रहा हूँ, हजारों लोगों की आँखों में झाँक रहा हूँ तो मुझे दिखाई पड़ता है, एक गहरी निराशा और एक गहरा अंधेरा, और एक विकृति और अस्वास्थ्य मनुष्य की चेतना पर बैठता जा रहा है। लोगों के चेहरों पर जो रेखाएं हैं, वे विषाद की हैं। और लोगों की आँखों में जो कालिमा है, वह निराशा की है। और लोगों की पूरी अंतरात्मा दुःख से ढंकी हुई और डूबी हुई मालूम होती है।

मैं यह सब देखता हूँ और मुझे प्रतीत होता है कि क्या फिर वे सारे लोग झूठे थे, क्या वे सारे ऋषि और उपदेशक, क्या वे सारे द्रष्टा और दार्शनिक असत्य थे, जिन्होंने कहा है कि मनुष्य के भीतर ब्रह्म का निवास है, जिन्होंने कहा है कि मनुष्य के भीतर परम ज्योति, चैतन्य की, जल रही है?

मनुष्य को जैसा मैं देखता हूँ, अगर मनुष्य का यही होना सच है, तो अतीत में उन सारे लोगों ने, जो जागे, और जिनकी हमने पूजा की, और जिनके नाम पर मंदिर और शिवालय खड़े किए, वे सब झूठे हो जाएंगे। या तो वे सत्य हैं या फिर मनुष्य का यह दुःख और विषाद और यह संतापग्रस्त स्थिति सत्य है। इन दो में से कोई एक ही सत्य हो सकता है, या तो हम और आप सत्य हैं, या फिर बुद्ध और महावीर, कृष्ण और क्राइस्ट सत्य थे।

ऐसा नहीं मालूम होता है कि हम सच होंगे और न यह वांछनीय दिखता है कि हम सत्य हों। यही आशा है मनुष्य के जीवन की, और उसके विकास की, और उसके परिपूर्ण चैतन्य को, आनंद को पाने की, कि हम सत्य ना हों और महावीर और बुद्ध और उपनिषद के ऋषि और प्राचीन संस्कृति के जागरूक द्रष्टा ही सत्य हों। उनकी ही वाणी सत्य हो कि मनुष्य के भीतर एक प्रकाश है, और एक आनंद का स्त्रोत है और यदि हम तैयार हों और यदि हम आकांक्षा करें तो उस स्त्रोत को, उस आनंद को पाया जा सकता है। मैं अपने सारे विचारों में एक ही बात कह रहा हूँ, चाहे आपसे कहनी हो, चाहे किसी और से, मैं एक ही बात दोहरा-दोहरा के कह रहा हूँ। और वह बात है कि मनुष्य आनंद को पा सकता है और असीम आनंद का अधिकारी हो सकता है, इससे ही संबंधित है।

मैं अभी एक गांव में था। वहां किसी ने मुझसे पूछा कि मैं गांव से क्या मांगने आया हूँ? उस गांव से कुछ दिन पहले, कुछ वर्ष पहले विनोबा जी निकले होंगे, लोग समझे कि मैं भी कुछ मांगने आया हूँ। मैंने कहा, निश्चित मैं भी मांगने आया हूँ। विनोबा जी भूमि मांगते हैं, मैं आपका दुःख मांगता हूँ। मेरी एक ही मांग मुझे समझ में आती है कि मैं आपका दुःख मांग लूँ, आप अपने दुःख को छोड़ दें। और एक ही त्याग मुझको समझ में आता है कि अपने विषाक्त मन को छोड़ दे, अंधेरे को छोड़ दें और उस प्रकाश के मालिक बन जाएं जिसके आप निरंतर और नित्य मालिक रहे हैं।

एक बहुत अजीब सी स्थिति है। कबीर ने गाया है कि मुझे सागर में मछली को प्यासी देखकर बहुत हंसी आती है। और यह उन्होंने मछली के लिये नहीं गाया है, यह उन्होंने मनुष्य के लिए गाया है। समस्त संतों को, और आत्म-द्रष्टा पुरुषों को, एक बात दिखाई दी है कि मनुष्य सागर के बीच रहकर प्यासा है। असीम आनंद का अधिकारी हो सकता है लेकिन दुःख का, और दारिद्र का, और अंधेरे का उस पर घेरा है। यह दुःख क्यों है? यह पीड़ा क्यों है? यह हमारे जीवन में अशांति क्यों है? इस संबंध में थोड़ी-सी बातें आपसे कहना चाहता हूँ और उस विधि के संबंध में भी, जो इस दुःख के पार प्रकाश की किरण को ला सकती है और इस अंधेरे के पार प्रभात को जन्म दे सकती है।

मनुष्य जैसा है, मनुष्य जैसा अपने को पाता है, उतने से संतुष्ट नहीं हो सकता है। मनुष्य जैसा अपने को जीवन में देखता है, उतने में उसकी तृप्ति असंभव है। उसकी सीमाएं और उसकी कमजोरियां और उसका अंधेरा उसे पीड़ा देता है। कोई मनुष्य आज तक जमीन पर जैसा था वैसे से संतुष्ट नहीं हो सका है। इसके पीछे अर्थ है, मनुष्य की यह अपूर्णता से अतृप्ति, मनुष्य की अपनी कमजोरी के प्रति यह विद्रोह, मनुष्य का अपनी सीमाओं के ऊपर उठने की आकांक्षा इस बात की द्योतक है कि उसके भीतर कुछ पूर्ण होने के लिए लालायित है, उसके भीतर कुछ पूर्ण होने के लिए आकांक्षा से भरा है। उसके भीतर कोई ज्योति है जो पूर्ण होकर ही तृप्त हो सकती है। मनुष्य के भीतर कुछ है जो प्रभु हुए बिना तृप्त नहीं हो सकता है। मनुष्य के भीतर कुछ है जो असीम को और अनंत को छुए बिना तृप्त नहीं हो सकता है। उससे कम में और उससे नीचे, और उससे पहले की सीढ़ी में मनुष्य दुःखी अनुभव करेगा। उससे पहले की सीढ़ी में अतृप्ति अनुभव करेगा, संताप अनुभव करेगा और तृप्त होना असंभव है।

मनुष्य की अपूर्णता तोड़ ही देनी होगी। मनुष्य को किसी भाँति अपनी समस्त अपूर्णता के बीच पूर्ण से संयुक्त हो जाना होगा और समस्त धर्म एक ही आकांक्षा से पैदा हुए हैं। चाहे उन धर्मों के नाम अलग हों, और चाहे उनके संप्रदायों के रूप अलग हों, और चाहे उनकी पूजा के विधान अलग हों, लेकिन एक ही जलती हुई आकांक्षा मनुष्य के भीतर पूर्ण होने की है। उस आकांक्षा से सारे धर्मों का जन्म हुआ है। उस एक ही आकांक्षा से, उस एक ही लपट की तरह उठने वाली आकांक्षा से, सारी साधनाओं का जन्म हुआ है। मनुष्य पूर्ण होना चाहता है और इसलिए मैंने कहना प्रारंभ किया है कि जब तक मनुष्य है जमीन पर, धर्म को अलग नहीं कर सकते हैं। कोई कितना ही कहे, कोई मार्क्स, या कोई फ्रायड, या कोई नीत्शे, या कोई और, कोई कितना ही कहे कि धर्म अब समाप्त हो रहा है, मनुष्य के समाप्त हुए बिना धर्म समाप्त होना असंभव है। इसलिए कि धर्म मनुष्य के ऊपर से सोच-विचार कर लादी हुई कोई चीज नहीं है। धर्म मनुष्य के पांडित्य से निकला हुआ कोई सिद्धांत नहीं है।

धर्म मनुष्य की जीवंत लालसा है। धर्म मनुष्य के भीतर से उठने वाली प्यास है, और जब तक मनुष्य है यह प्यास रहेगी, और जब तक यह प्यास है तब तक प्यास के लिए सागर में तलाश भी रहेगी। तब तक प्यास को तृप्ति के बिंदु तक पहुंचाने की आकांक्षा और साधना भी रहेगी। धर्म इस अर्थ में सनातन है। जब से मनुष्य है और जब तक मनुष्य रहेगा, धर्म का रहना निश्चित है। और ऐसे सनातन सत्य को चूंकि हम अस्वीकार करते जा रहे हैं, ऐसी सनातन आकांक्षा से चूंकि हम दूर हटते जा रहे हैं, और क्षुद्र आकांक्षाओं में, अब कंकड़ और पत्थरों में अपने को तृप्त करना चाहते हैं। जो चेतना हीरों को पाने के लिए बनी हो और जो चेतना सागर को पाने के लिए बनी हो, उसे हम बूंदों से तृप्त करना चाहते हैं, तो स्वाभाविक है कि जीवन दुःख से भर जाएगा। स्वाभाविक है कि जीवन अंधेरा हो जाएगा। स्वाभाविक है कि असंतोष सार्वजनिक हो जाए। स्वाभाविक है कि जीवन मृत्यु जैसा दिखने लगे और उसमें आनंद का स्फुरण, और उसमें शांति की ज्योति, और उसमें वह सब विलीन हो जाए जिसे पाने के लिए मनुष्य का जीवन और जिसे पाने के लिए यह महान अवसर है। इस मूल मनुष्य की प्यास से दूर हटकर जितनी हमारी सदी आगे बढ़ती जा रही है, उतने ही हमारे कदम अंधेरे में घिरते जाते हैं। उतने ही हम मृत्यु में गिरते जाते हैं। और एक सामूहिक आत्महत्या, और एक सामूहिक घातक प्रयोग का बादल हमारे जीवन पर छाया हुआ मालूम होता है।

इसलिए मैंने कहा कि मेरे धर्म के संबंध में चर्चा करने में मुझे आनंद है। वह आनंद इसलिए है ताकि आपके भीतर की उस प्यास को मैं थोड़ा-सा उकसा सकूं और आपके भीतर की उस ज्योति को थोड़ा-सा उकसा सकूं, जो पूर्ण को पाने के लिए लालायित हो जाए। और आकांक्षा से भर जाए क्षुद्र को छोड़ने की, और विराट से

संयुक्त होने की। समस्त धर्म इस एक ही आकांक्षा को तृप्त करने के लिए हैं, और उस एक ही आकांक्षा को प्रज्ज्वलित करने के लिए हैं।

मनुष्य ने क्षुद्र से विराट को पाने के जो उपाय किए हैं, उन समस्त उपायों के संबंध में थोड़ा सा मैं कहना चाहूंगा। वे सारे उपाय जो मनुष्य ने अपनी संकीर्णता को, और सीमा को छोड़कर अपने बूंद के रूप को छोड़कर सागर होने के लिए किए हैं, उन सब की थोड़ी सी चर्चा मैं करना चाहता हूँ। जैसा मैंने कहा, जब से मनुष्य है, तब से प्रयास चलता रहा है और तब से उसकी दौड़ चलती रही है, और खोज चलती रही है, अन्वेषण चलता रहा है कि कैसे, किन उपायों से वह अपने को छोड़कर विराट को पा ले? इस शोध में, और अन्वेषण में तीन प्रकार की साधनाएं मनुष्य ने विकसित की हैं। एक साधना भक्ति की साधना है। एक साधना ज्ञान की साधना है। एक साधना कर्म की साधना है। भक्तियोग कहें, ज्ञानयोग और कर्मयोग इन तीन योगों में मनुष्य की उन सारी साधना-पद्धतियों को बांटा जा सकता है, जो आज तक विकसित रही हैं। इन तीनों साधना पद्धतियों को थोड़ा सा मैं कहूंगा और अंत में मैं उस साधना पद्धति के संबंध में कहूँगा जो अनेकांतवादी जीवन दृष्टिकोण से संबंधित है। मेरा मानना है कि आज तक अनेकांतवादी जीवन साधना के संबंध में हमने कोई विचार नहीं किया है। हमने अनेकांतवादी जीवन दृष्टिकोण पर तात्विक रूप से तो विचार किया है, दार्शनिक रूप से तो विचार किया है, लेकिन साधनागत रूप से कोई विचार नहीं किया है। मैं पहले इन तीन साधनाओं की पद्धतियों पर विचार करूंगा, और मेरा मानना है कि ये तीनों साधना पद्धतियां एकांतवादी साधना पद्धतियां है। यह मनुष्य के एक जीवन कोण को और एक जीवन आयाम को लेकर चलती है। पूरे मनुष्य के व्यक्तित्व की तृप्ति इससे असंभव है।

पहले मैं भक्तियोग के संबंध में थोड़ी सी बात करना चाहता हूँ। सबसे पहले तो हम यह जान लें कि भक्ति के नाम से जो प्रचलित है, वह भक्ति नहीं है। भक्ति के नाम से जो मंदिर में पूजा और अर्चना है, जो पत्थर की मूर्तियां हैं, और जो पत्थर के देवताओं को चढ़ाए गए नैवेद्य हैं, वे सब झूठे हैं। इनका भक्तियोग से कोई संबंध नहीं है। भक्तियोग का आपके द्वारा की गई प्रार्थनाओं से कोई संबंध नहीं है। आपकी सब प्रार्थनाएं वासनाग्रस्त हैं। प्रार्थनाओं में आप कुछ मांगते हैं, प्रार्थनाओं में आपकी कोई वासना है, तो प्रार्थना झूठी और मिथ्या है। केवल वही प्रार्थना सत्य है, जिसमें आप कुछ मांगते नहीं वरन अपने को दे देते हैं, और केवल वही पूजा सत्य है, जिसमें बिना किसी वासना के व्यक्ति का आत्मसमर्पण है। भक्ति का अर्थ है- आत्मसमर्पण। अपने को अपने से विराट और असीम शक्ति के प्रति समर्पित कर देना, विसर्जित कर देना, अपने को छोड़ देना।

मनुष्य का जो अहंकार है मनुष्य का जो 'मैं' का भाव है। वही उसकी पीड़ा की ग्रन्थि और गांठ है। हम जिस 'मैं' को पकड़े हुए हैं, हम जिस 'मैं' के कारण जीते हैं, और जीवन भर जिस 'मैं' को तृप्त करने की कोशिश करते हैं। चाहे धन को इकट्ठा करके, चाहे ज्ञान को इकट्ठा करके, चाहे त्याग और तपस्या में उतरकर हम जिस 'मैं' को तृप्त करते हैं, उस 'मैं' को छोड़ देना भक्ति है। मैंने कहा 'मैं' को तृप्त करने के अनेक-अनेक रास्ते हो सकते हैं। कोई व्यक्ति बहुत धन को इकट्ठा करके 'मैं' को तृप्त कर ले सकता है। कोई व्यक्ति बहुत ज्ञान अर्जित करके, पांडित्य से 'मैं' को तृप्त करने की चेष्टा कर सकता है। और मैंने यह भी कहा है कि कोई व्यक्ति--और 100 में से 99 व्यक्ति वही करते हैं--त्याग करके भी, तपस्या करके भी 'मैं' को तृप्त कर सकता है।

मैं एक छोटी सी कहानी आपसे कहूँ, मैंने एक फकीर के बाबत कहानी पढ़ी, एक मुसलमान फकीर के बाबत है। उसकी चारों तरफ, पूरी देश में ख्याति थी, उसका नाम कोने-कोने तक फैल गया था। उसकी तपश्चर्या और त्याग की कथाएँ दूर-दूर तक हवाओं में उड़ गईं थीं। वह अपने देश की राजधानी में आ रहा था। बादशाह को पता चला। बादशाह को यह भी पता चला है कि वह फकीर बचपन में उसके साथ मदरसे में पढ़ता था, एक

ही स्कूल में वे पढ़ते थे। उसने सोचा मेरा मित्र इतना प्रतिष्ठित होकर नगर में लौट रहा है। मैं उसके स्वागत का शाही इंतजाम करूं। उसने पूरी राजधानी को सजवाया। उस रास्ते से लेकर महल तक, जहाँ से फकीर का गांव में प्रवेश होने को था, उसने कालीन बिछवाए और रास्ते पर बंदनवार लगवाए।

फकीर को खबर पड़ गई। किसी ने कहा कि तुम्हारा मित्र जो कभी तुम्हारे साथ पढ़ा, वी अब बादशाह है। तुम राजधानी में जा रहे हो, वह तुम्हारी ख्याति से पीड़ित मालूम होता है। तो वह भी अपनी समृद्धि दिखाना चाह रहा है। तुम्हारे स्वागत के नाम पर उसने पूरी राजधानी को सजाया है। रास्तों पर बहुमूल्य कालीन बिछाए हैं और वह दिखाना चाहता है कि तुमने ही कुछ नहीं कमा लिया, मैंने भी कुछ कमाया है।

उस फकीर ने कहा कि उसे दिखाने दो। हम भी देख लेंगे, उत्तर हमारे पास भी है।

जिस दिन वह फकीर गांव में आया, वह फकीर नंगा रहता था, उसने कपड़े छोड़ दिए थे, जिस दिन वह गांव में आया तो बादशाह अपने समस्त प्रियजनों, परिजनों को लेकर नगर के बाहर उपस्थित था। सारे लोग हैरान हुए फकीर नंगा था, लेकिन उसके घुटने तक पैर कीचड़ से भरे हुए थे। लोगों को हैरानी हुई। उस समय तो बरखा का मौसम भी नहीं था। मार्ग सूखे थे। कोई भी कारण समझ में नहीं आता था कि घुटनों तक पैर कीचड़ से क्यों भरे हैं। बादशाह ने महल तक पहुंचते-पहुंचते आखिर उस फकीर से पूछा कि मैं समझ नहीं पाया आपके ये पैर कीचड़ से क्यों भरे हुए हैं?

उस फकीर ने कहा कि तुम अगर अपनी दौलत और अपने साम्राज्य की प्रतिष्ठा और अपने बादशाह होने के भाव को रास्तों पर कालीन बिछाकर प्रकट कर सकते हो तो मैं अपनी फकीरी पैर में कीचड़ लगाकर जाहिर कर सकता हूँ।

बादशाह ने कहा कि फिर मुझमें और तुम में कोई अंतर नहीं है। अगर मैं समृद्धि से और राज्य से अपने 'मैं' को तृप्त कर रहा हूँ तो तुम सब छोड़कर उसी 'मैं' की तृप्ति में लगे हो।

त्याग भी अहंकार की पूर्ति का साधन बन सकता है। हम अगर जागरूक ना हों तो हमारे जीवन की सब क्रियाएं हमारे 'मैं' को तृप्त करने का कारण बन जाती हैं, और जो 'मैं' की तृप्ति में लगा है, वह क्षुद्र की तृप्ति में लगा है, वह विराट से संयुक्त नहीं हो सकता है। विराट से संयुक्त होने का एक ही उपाय है, कि उस 'मैं' की क्षुद्र दीवार को तोड़ दें। यह 'मैं' की क्षुद्र दीवार गिर जाए, यह 'मैं' का बोध विसर्जित हो जाए। एक ऐसे क्षण में जब प्रभु के प्रति, अनंत के प्रति कोई अपने 'मैं' को छोड़कर शून्य हो जाता है, और उस अनंत को अपने में से बहने देता है, और उसका अहंकार कहीं बाधा और दीवार नहीं बनता। उस क्षण में भक्ति पूरी होती है। भक्ति का अर्थ है 'मैं' नहीं हूँ और विराट की सत्ता ही अब सब कुछ है। 'मैं' का विसर्जन और समर्पण भक्ति है।

गौतम बुद्ध के जीवन की मुझे एक घटना स्मरण आती है। एक बार वे संघ में जब प्रवचन कर रहे थे, एक ब्रह्मदत्त नाम का राजा दोनों हाथों में फूल लेकर उनके स्वागत को आया। बीच से, एक मार्ग था संघ के, और वह ब्रह्मदत्त उस मार्ग पर से फूल लेकर आगे बढ़ा। बुद्ध ने जैसे ही उसे देखा उन्होंने जोर से आवाज दी। उन्होंने कहा ब्रह्मदत्त, गिरा दो! ब्रह्मदत्त ने एक हाथ के फूल गिरा दिए। वह दो कदम आगे बढ़ा। बुद्ध की आवाज दुबारा गूंजी, ब्रह्मदत्त गिरा दो! ब्रह्मदत्त ने दूसरे हाथ के फूल भी गिरा दिए। अब वह खाली हाथ था, अब उसके पास कुछ भी नहीं था गिराने को। वह दो कदम और आगे बढ़ा और सब ने सुना कि बुद्ध ने फिर कहा कि ब्रह्मदत्त मैं तुमसे कहता हूँ गिरा दो!

ब्रह्मदत्त ने पूछा भगवन्, अब तो मेरे पास गिराने को कुछ भी नहीं है।

बुद्ध ने कहा, जो मैंने मांगा नहीं उसको तुमने गिराया। जो मैं गिराने को कहता हूँ उसे तुम सिर पर उठाए लिए चले आ रहे हो। तुम्हारी आँख में और तुम्हारे पैरों की गति में और तुम्हारे पूरे शरीर की गति में और क्रिया

में और तुम्हारे एक-एक लक्षण में वह खड़ा हुआ है, जिसे गिराने को धर्म कहता है। तुम ब्रह्मदत्त अपने "मैं" को गिरा दो, तो तुम बुद्ध के चरणों में पहुंचते हो। फूल गिराने से कोई नहीं पहुँचता है।

यह जो बुद्ध ने ब्रह्मदत्त से कहा, यह भक्तियोग प्रत्येक से कहना चाहता है। भक्तियोग की मान्यता और साधना "मैं" के विसर्जन, "मैं" को विलीन करने से है। यह एक योग है। यह एक रास्ता है, लेकिन अनेकांतवादी साधना का विश्वास है कि यह एकांतवादी रास्ता है। अकेला भक्त ज्ञान से शून्य, कर्म से शून्य, अधूरे व्यक्तित्व को विकसित करेगा। अकेली भक्ति एक अधूरे एकांकी व्यक्तित्व को विकसित करेगी। अकेली भक्ति जीवन साधना का सर्वांगीण रूप नहीं है।

भक्तियोग ठीक है। अकेला भक्तियोग ठीक नहीं है। भक्तियोग सत्य है, अकेला भक्तियोग सत्य नहीं है। उसके साथ और योग संयुक्त हों तो व्यक्तित्व पूरे जीवन के चरम उत्कर्ष पर पहुँचता है। अकेला भक्तियोग ज्ञान के अभाव में अंधा हो जाता है। और इसलिए भक्ति के मार्ग धीरे-धीरे ज्ञान के अभाव में अंधविश्वास में परिणित हो जाते हैं। भक्तियोग के मार्ग धीरे धीरे, आहिस्ता-आहिस्ता, अंधविश्वासी, अज्ञानी, अबुद्धिवादी रूपों में पतित होते चले जाते हैं। इसलिए भक्तियोग अकेला नहीं, उसके साथ ज्ञान संयुक्त हो तो प्रेम के साथ आँख संयुक्त हो जाती है। समर्पण के साथ ज्ञान का प्रकाश संयुक्त हो जाता है। लेकिन अकेला भक्तियोग कर्म के अभाव में ही निष्क्रिय और अपंग हो जाता है। जीवन से उसका संबंध, जीवन से उसके सक्रिय नाते टूट जाते हैं। अकेला भक्तियोग कर्म के अभाव में जीवन की सेवा के विपरीत चला जाता है। सेवा से उसका नाता और लगाव टूट जाता है। वह समस्त जीवन की सेवा, और करुणा, और उसका भी विकास हो, उत्थान हो, और सब अग्रसर हों जीवन के चरम उत्कर्ष की ओर, इससे उसका वास्ता टूट जाता है। अकेला भक्तियोग ज्ञान के अभाव में अंधा, कर्म के अभाव में निष्क्रिय हो जाता है। इसलिए अकेली भक्तियोग की साधना एकांतवादी साधना है, वह एक दिशा की साधना है। सर्वांगीण साधना उसे नहीं कहा जा सकता है।

दूसरी साधना ज्ञानयोग की साधना है। ज्ञानयोग का क्या अर्थ है? ज्ञानयोग का अर्थ, सामान्यतः प्रचलित रूपों में समझा जाता है- बहुत अध्ययन, बहुत मनन, बहुत पठन, बहुत से विचारों का संकलन, पांडित्य, ज्ञानयोग है। ज्ञानयोग का पांडित्य से कोई संबंध नहीं है, वरन विपरीत हो सकता है। पांडित्य ज्ञानयोग के आने में बाधा बन जाए। पांडित्य बौद्धिक विकास है। पांडित्य का आत्मिक जीवन से कोई नाता नहीं है। पांडित्य का अर्थ है मैं अपनी बुद्धि को विचारों से भरता चला जाता हूँ, और सब विचार पराए हैं और सब विचार दूसरों के हैं, और उनमें कोई भी अनुभूति का कण नहीं है। और जहाँ अनुभूति नहीं है, वहाँ जीवन नहीं है। जो विचार मेरी अनुभूति से पैदा नहीं होता वह विचार मृत है। उस विचार से वजन बढ़ सकता है। मुक्ति और जीवन का चरम उससे उपलब्ध नहीं होता है।

एक संस्मरण मुझे याद आता है। बंगाल में एक साधु थे युक्तेश्वर गिरी। उनके एक शिष्य ने, योगानंद ने लिखा है कि मैं जब गुरु के आश्रम गया तो मैं बहुत हैरान हुआ। मेरे गुरु का ज्ञान मुझे बहुत थोड़ा मालूम हुआ। उनकी कुल बातें इतनी थीं कि दस पाँच मिनट में चुकता हो जाती थीं। उनकी जानकारी ज्यादा नहीं मालूम होती थी। वे उपनिषदों, और वेदों, और कादम्बरों, और पुराणों को उद्धृत नहीं करते थे। उनकी वाणी में कोई पांडित्य का भार नहीं था। कुछ थोड़ी सी बातें थीं। दो-चार दिन में हम ऊब गये। क्योंकि वही-वही बातें सुननी थीं। वही वही बातें वह करते थे। योगानंद ने लिखा है कि मैंने ऊबकर भाग जाना चाहा। क्योंकि ऐसे गुरु के पास से क्या उपलब्ध होगा?

तभी अनायास एक पंडित का आगमन हुआ। आश्रम में उस पंडित ने दो घण्टे तक वेदांत की ऐसी गंभीर और गहरी चर्चा की, ऐसा सूक्ष्म विश्लेषण किया, ऐसे तार-तार निकालकर अलग कर दिए कि हम लोग बहुत

प्रभावित हुए। और योगानंद ने लिखा है कि लगा कि गुरु मिले जीवन में तो ऐसा मिले तो कुछ पहुँचना भी हो सकता है। योगानंद ने लिखा कि मैं मेरे गुरु की तरफ देखता रहा कि उन पर क्या प्रभाव पड़ता है? उनकी तो बड़ी टूटी-फूटी पूँजी थी। उनका तो कोई ज्ञान नहीं मालूम होता था। वे भी शायद इस से प्रभावित हुए होंगे।

दो घंटे पंडित ने बोलकर गुरु की तरफ देखा।

गुरु ने कहा उस पंडित से- आई एम वेटिंग टू हियर यू। गुरु ने कहा कि मैं आपको सुनने के लिए रुका हुआ हूँ। उस पंडित से कहा, मैं दो घंटे सूक्ष्म विश्लेषण में गया था।

गुरु ने कहा कि मैं आपको सुनने को रुका हुआ हूँ।

पंडित तो आँख फाड़ कर रह गया। उसने कहा यह दो घंटे मैंने क्या किया होगा? क्या मैं कोई सन्निपात में बोल रहा था? जो आप कहते हैं कि मैं आपको सुनने को रुका हूँ।

युक्तेश्वर गिरि ने कहा कि तुम अभी जो भी बोले, उसमें तुम्हारा कुछ भी नहीं है। तुमने अभी जो भी बोल बोले, उसमें तुमसे कुछ भी पैदा नहीं हुआ है। तुम अभी जो भी बोले उसमें तुम्हारा कुछ भी नहीं था। तुम अभी जो भी बोले सब उधार, सब झूठा और सब मृत है। और जो मृत है, उससे आत्मिक जीवन को नहीं पाया जा सकता।

आत्मिक जीवन को तो स्वानुभूति से और आत्मिक ज्ञान को अपने ही भीतर खोद कर पाना होता है। ज्ञान आत्मिक जीवन का, बाहर से उपलब्ध होने को नहीं है। ज्ञानयोग का मानना है, जैसे हम कुएँ से पानी खींच लेते हैं, वैसे ही ज्ञान भी अपने भीतर में डूबकर खींच लेना है। ज्ञान वहाँ उपलब्ध है, ज्ञान हमारा स्वरूप है। वह हमारे भीतर है। हमें डुबकी लेकर भीतर से खींच लाना है। हमें बाहर किताबों और ग्रंथालयों से उसे इकट्ठा करके अपने मस्तिष्क पर लाद नहीं लेना है। आत्मिक ज्ञान हमारे भीतर, हमारा स्वरूप है, वह मेरे साथ है निरंतर, उसे एक-एक क्षण को भी मैंने खोया नहीं है। केवल मैं उससे बाहर निकल आया हूँ और अपने स्त्रोत को भूल गया हूँ।

ज्ञानयोग बाहर से इकट्ठा करने को नहीं, भीतर से खोदने को कहता है। इसलिए पांडित्य से ज्ञानयोग का कोई संबंध नहीं है। यह भ्रांति मन से अलग कर दें कि ज्ञानयोग का अर्थ ज्ञान अर्जित करना है। ज्ञानयोग का अर्थ, ज्ञान उद्घाटित करना है, अर्जित करना नहीं है, पर्दे को हटा देना है। कौन सा पर्दा रोके हुए है मेरे भीतर के ज्ञान को? जो ज्ञान को मैंने बाहर से लादा हुआ है वह मेरे भीतर के ज्ञान को आने से रोक रहा है।

जब रामकृष्ण के पास विवेकानंद गए, रामकृष्ण ने कहा नरेंद्र--उनका नाम नरेंद्र था तब--तुम साधना में आए हो तो तुम्हें एक काम करना होगा। विवेकानंद ने कहा कि मैं सब कुछ करने के भाव से आया हूँ। रामकृष्ण ने कहा बहुत सरल सी बात है सुनने में, लेकिन कठिन जाएगी। तुमने अब तक जो सीखा है, उसे भूलना होगा। और समस्त ज्ञानयोग की एक ही शर्त है- जो आपने सीख लिया है बाहर से, और लाद दिया है, और जिसकी पर्त घनी हो गई है, और जिसकी पर्त इतनी घनी हो गई है कि नीचे का कुआँ दब गया है, उसे अलग कर देना होगा ताकि जो भीतर है, वह प्रकट हो सके। विचारों को छोड़कर ज्ञान उपलब्ध होता है।

यह बात विरोधाभासी दिखेगी, लेकिन जीवन के बहुत से सत्य विरोधाभासी हैं, और मजबूरी है उनका स्वभाव वैसा है, कितने ही विरोधाभासी दिखें, लेकिन वे जैसे हैं वैसे ही उन्हें मानना पड़ता है। समस्त विचार को छोड़ देने पर, विचार मात्र को छोड़ देने पर, विचार मात्र से मुक्त हो जाने पर, वह शांत निर्मल स्थिति में, जो भीतर है वह प्रकट होना शुरू हो जाता है। ज्ञानयोग विचार विसर्जन है। भक्तियोग अहंकार विसर्जन है। ज्ञानयोग विचार विसर्जन है। विचार विसर्जन से भीतर का प्रकाश प्रकट हो जाता है। उस प्रकाश में दिखता है कि मैं अनंत का हिस्सा हूँ। उस प्रकाश में दिखता है कि मैं अमृत का हिस्सा हूँ।

एक पद्धति ज्ञानयोग की है, लेकिन ज्ञानयोग की पद्धति भी अपने में सीमित हो जाए और अपने में बंद हो जाए तो शुष्क हो जाती है, नीरस हो जाती है। जीवन से, जीवन के सौंदर्य से और रस से पृथक हो जाती है। भावनाओं का और प्रेम को कोई स्थान मालूम नहीं होता है। इसलिए ज्ञानयोग जब पतित होता है, तो वह शुष्क विचार, और पांडित्य, और तर्क, और बाल की खाल निकालने वाली युक्तियां, और शून्य में चला जाता है। ज्ञानयोग जब पतित होता है, तो वह शुष्क पांडित्य और शास्त्रीय ज्ञान में परिणित हो जाता है। उससे बोझ बढ़ता है, लेकिन उससे कोई सत्य की उपलब्धि नहीं होती। अकेला ज्ञानयोग भक्ति से शून्य होने के कारण रस, और सौंदर्य, और प्रेम, और भावना से शून्य होता है। अकेला ज्ञानयोग कर्म से शून्य होने के कारण निष्क्रिय, और अपंग, और जीवन से पृथक हो जाता है। इसलिए अनेकांतवादी जीवन साधना या संपूर्ण जीवन की अखंड या पूर्ण साधना ज्ञानयोग को स्वीकार करती है, पूरी तरह। लेकिन अकेले ज्ञानयोग को स्वीकार नहीं करती, ज्ञानयोग के साथ भक्ति को और कर्म को भी स्वीकार करती है।

तीसरा योग कर्मयोग का है। तीसरे योग का क्या अर्थ है? क्या आप किसी काम में लगे हुए हैं तो कर्मयोगी हो गए हैं! मुझे सेवक मिलते हैं, जो गांव में सेवा कर रहे हैं, या कोई हरिजनों की सेवा कर रहा है, या कोई किसी विद्यालय की या अस्पताल की, और उनको शायद प्रतीत होता है कि वे कर्मयोग में लगे हैं। केवल काम में लग जाना कर्मयोग नहीं है। केवल काम में ही लग जाने से कोई कर्मयोगी नहीं हो जाता।

कर्मयोग एक विशिष्ट तरह का कर्म है जिसमें कर्ता उपस्थित न हो। कर्मयोग का अर्थ है जिसमें कर्ता उपस्थित ना हो। कर्ता के भाव से शून्य होकर जो कर्म किया जाए वह कर्मयोग है। मैं कोई काम करूँ, अगर मैं उपस्थित हूँ वहाँ, मैं कर्ता की भाँति उपस्थित हूँ तो कर्म मेरे प्रति अर्पित होगा। अगर मैं कर्ता-शून्य हो गया हूँ, तो कर्म प्रभु के प्रति अर्पित हो जाता है। जो कर्म प्रभु के प्रति अर्पित है और मैं केवल उसका एक उपकरण मात्र हूँ, उसका एक साधन मात्र हूँ, तो कर्मयोग हो जाता है।

कर्म को हम तो हमेशा अपने लिए करते हैं। और अपने लिए करते हैं, इसलिए कर्म कभी भी वर्तमान में नहीं होता है। इस सत्य को थोड़ा सा समझना जरूरी है तभी कर्मयोग को समझना संभव हो सकेगा। हम सबके कर्म किए तो जाते हैं वर्तमान में, लेकिन उनके फल की आकांक्षा भविष्य में होती है। हम करते हैं कर्म अभी, लेकिन हमारी आकांक्षा की दृष्टि और हमारे मन की उड़ान भविष्य में लगी होती है जहां फल उपलब्ध होता है। हम कर्म से संबंधित नहीं है। हम फलाकांक्षी हैं। हम कर्म करते हैं इसलिए कि फल की आकांक्षा है।

हम, फल अगर बिना कर्म के मिल सके, तो कर्म करने के राजी नहीं होंगे।

हम फल चाहते हैं, कर्म से हमें कोई संबंध नहीं है। और कर्म हमें बोझ है क्योंकि उसे करना पड़ता है और फल के लिए राह देखनी पड़ती है। अगर बिना कर्म किए फल मिल जाए तो हममें से कोई कर्म करने को राजी नहीं होगा। हमारा कर्म में कोई लगाव नहीं है। कर्म से लगाव ना होने के कारण हम वर्तमान में नहीं जीते, हम भविष्य में जीते हैं। हममें से प्रत्येक व्यक्ति या तो अतीत की स्मृतियों में जीता है या भविष्य की आकांक्षाओं में, वासनाओं में जीता है। इसका अजीब अर्थ हुआ, इसका यह अर्थ हुआ अगर समझेंगे, तो ना तो अतीत की कोई सत्ता है सिवाय स्मृति के, ना तो भविष्य की कोई सत्ता है सिवाय कल्पना के। और हम उसमें जीते हैं जिसकी असत्ता है। हम अतीत में जीते हैं जो नहीं है। हम भविष्य में जीते हैं जो अभी नहीं हुआ। एक जा चुका है, एक अभी आया नहीं, हम असत्ता में जी रहे हैं। हम उसमें जी रहे हैं जिसका होना नहीं है। जो वर्तमान में मौजूद है, जिसकी सत्ता है, जिसमें जीवन है, उससे हमारा कोई संबंध नहीं है।

कर्मयोग का कहना है कि वर्तमान में ही सत्ता है, वहीं से सत्य का मार्ग है। जो वर्तमान में जीयेगा वह सत्य में प्रवेश कर जाएगा। वर्तमान में जीने के लिए फलाकांक्षा छोड़नी होगी, फलाकांक्षा तब तक नहीं छूटेगी

जब तक कर्ता होने का भाव ना छूटे। फलाकांक्षा मेरे लिए है, अगर मैं हूँ तो फलाकांक्षा होगी। अगर मैं अपना भाव छोड़ दूं तो फलाकांक्षा छूट जाएगी। फलाकांक्षा छोड़कर, कर्ता का भाव छोड़कर जो वर्तमान में जीता है, केवल वर्तमान में, विशुद्ध कर्म में जीता है, वह कर्मयोगी है। और कर्मयोग के द्वारा वर्तमान जीवन में जीने से सत्ता से संयुक्त हो जाता है। यह एक मार्ग कर्मयोग का है।

इस कर्मयोग का वैसा अर्थ नहीं है जैसा आप सेवा के प्रचारक कर रहे हैं। केवल सेवा के नाम पर कर्मयोग नहीं हो जाता। केवल गरीब की या मजदूर की सेवा कर देने से कोई कर्मयोगी नहीं हो जाता। कर्मयोगी होने के लिए इन बातों से युक्त होना होगा, वर्तमान में जीना होगा--विशुद्ध। अगर सेवा की भी आकांक्षा भविष्य के फल में है, अगर वह भी अपने सेवा के परिणाम में किसी योजना की पूर्ति की आकांक्षा से भरा है, तो वह कर्मयोगी नहीं है। वह भी आकांक्षा से प्रेरित है। अगर वह अपनी सेवा की योजना के पीछे आकांक्षा से भरा है और सोच रहा है कि पाँच वर्ष में दस वर्ष में उसकी योजना फैलेगी, पूरे मुल्क का कायापलट हो जाएगा, सारा देश खुश हो जाएगा, सारा देश सर्वादय से, समाजवाद से भर जाएगा। उस आकांक्षा से अगर वह भरा है, तो आकांक्षा के कारण वह कर्मयोग में काम नहीं कर रहा है। अगर फल नहीं मिला तो उसे दुःख होगा।

केवल कर्मयोगी दुःखी नहीं होगा क्योंकि फल के मिलने ना मिलने का प्रश्न नहीं है। कर्म करना उसका आनंद है। कर्म करना निश्चित ही उस क्षण आनंद हो जाता है जिस क्षण आप केवल कर्म करते हैं। जिस क्षण केवल कर्म होता है और कर्ता मिट जाता है, कर्म आनंद हो जाता है। और आप हैरान होंगे, आपको सामान्य जीवन में भी जहाँ कर्म में थोड़ा बहुत आनंद मिलता हो, वहाँ आप हैरान होंगे। वहाँ आनंद इसलिये मिलता है कि किसी भी कारण से अगर कर्ता का भाव गिर गया है और केवल कर्म रह गया है, जैसे खेलने में अगर थोड़ा सा आनंद मिलता है तो केवल इस कारण कि एक हल्की सी झलक शुद्ध कर्म की वहां उपलब्ध होती है। जीवन के सामान्य क्षणों में भी, वे कर्म आनंद के हो जाते है जहाँ कर्ता खो जाता है।

एक चित्रकार था विंसेन्ट वान्गॉग, वह दक्ष चित्रकार था। उसने लिखा है कि वह भूखे चित्र बनाता था। उसे पता नही चला, कब भूख लगी, कब आई-गई? उसके घर के लोग परेशान थे। उन्होंने कहा तुम पागल हो। ये चित्र तुम्हारे बिकेंगे नहीं, इनको कोई पसंद नहीं करता। उसने कहा चित्रों के बिकने से कोई संबंन्ध नहीं है। जब मैं इन्हें बनाता हूँ तो मैं बिल्कुल मिट जाता हूँ। तूलिका रह जाती है और चित्र बनता जाता है। और चित्र इतना बनने लगता है कि मैं और चित्र एक हो जाते हैं। उस क्षण जो आनंद उपलब्ध होता है वह पर्याप्त है। उसके बाद और कोई आकांक्षा नहीं है।

समस्त कलाकारों ने जो आनंद की अनुभूति अपनी कला के सृजन में की है, वह कर्मयोग की एक हल्की झलक के कारण हुई है। लेकिन जो व्यक्ति अपने पूरे जीवन को कला में परिवर्तित कर दे और समस्त कर्म के बीच कर्ता को विसर्जित कर दे, उसका पूरा जीवन आनंद को प्राप्त होता है। एक योग कर्मयोग का था। यह अकेला योग एकांतवादी है। अकेला कर्म में लगा हुआ व्यक्ति अगर भक्तिशून्य हो तो उसके कर्म रसविहीन हो जाएंगे। वह कर्म करेगा लेकिन मशीन की तरह। उसके कर्म से रस और मानवीय संबंध समाप्त हो जाएगा। अगर वह ज्ञानयुक्त ना हो, अगर ज्ञानयोग का सान्निध्य ना हो, तो उसके कर्म अंधे भी हो जा सकते हैं। उसके कर्म परिणाम में दुःखद स्थितियां भी ला सकते हैं। कर्मयोग अकेला सक्रिय तो बहुत होगा लेकिन आँख नहीं होगी और भावना से भरी प्रीति नहीं होगी। कर्म के पीछे रस और सौंदर्य नहीं होगा। यह साधना अकेले में अधूरी है।

कर्मयोग सत्य है लेकिन अकेला कर्मयोग नहीं। मेरा मानना है, जीवन की पूर्ण साधना कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनों के संयुक्त होने से होती है। ये तीनों संयुक्त कैसे होंगे? क्या थोड़ा सा कर्मयोग का हिस्सा ले लें, थोड़ा सा भक्तियोग का और थोड़ा सा ज्ञानयोग का तो तीनों मिलकर संयुक्त हो जाएंगे? ऐसी भ्रांति खूब फैली है, इस

तरह का ऊपरी जोड़ करने की भ्रांति बहुत फैली है। अगर कोई सर्वधर्म समन्वय करता है तो एक प्रार्थना कुरान की, एक गीता की, एक जंदाविस्ता की, एक बाइबिल से, एक समयसार से इकट्ठी करके दस लोग खड़े होकर उनको कह देते हैं और उनको समझा जाता है सर्वधर्म समन्वय हो गया। एक सिद्धांत बाइबिल से, एक महावीर का, एक कृष्ण का इकठ्ठा कर लिया, समझा कि सर्वधर्म समन्वय हो गया।

यूं ऊपर से समन्वय नहीं होते, ऊपर से केवल समझौते होते हैं और समझौतों में कोई प्राण नहीं होता है। इसलिए पिछली आधी सदी में हमने भारत में समझौते के बहुत प्रयास किए। लेकिन सब दो कौड़ी के साबित हुए। हमारे सब समझौतों के प्रयास जिनको हम समन्वय का नाम देते रहे, किसी अर्थ के साबित नहीं हुए हैं। समन्वय ऊपर शाखाओं में नहीं करना होता। समन्वय अगर जड़ से आये, प्राणों से आए, तो होता है।

मेरी दृष्टि में कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग में ऊपर से, कोई ऊपर से समन्वय नहीं हो सकता है। फिर वह कौन सा बिंदु है जिसके माध्यम से ये तीनों योग एक साथ सध सकते हैं? और जड़ से, समझौते से नहीं, मूल जीवन के समन्वय से, एक साथ विकसित हो सकते हैं? मेरा मानना है कि वैसा योग है। उसी योग को मैं अनेकांतयोग कहता हूं या पूर्ण योग कहता हूं।

अगर हम विचार करें, जैसा मैंने कहाः ज्ञानयोग विचार-विसर्जन है, भक्तियोग अहंकार-विसर्जन है, कर्मयोग फलाकांक्षा-विसर्जन है। अगर हम इन तीनों को देखें तो एक ऐसी विधि खोजी जा सकती है जिससे एक साथ विचार विसर्जित हों, अहंकार विसर्जित हो, फलाकांक्षा विसर्जित हो, ये तीनों बातें अलग थोड़ी हैं!

अहंकार क्या है? अहंकार एक विचार है। अगर विचार विसर्जित हो तो अहंकार के बचने की कोई गुंजाइश नहीं है। फलाकांक्षा क्या है? फलाकांक्षा एक विचार है। फलाकांक्षा, अहंकार, विचार ये तीनों अलग बातें नहीं है, ये मन के तीन रूप हैं। अगर मन विसर्जित हो जाए तो ये तीनों एक साथ विसर्जित हो जाते हैं। मन विसर्जन ध्यान से होता है।

ध्यान केन्द्र है। अगर ध्यान से मन विसर्जित हो जाए तो तीनों योग अपने आप सहज विकसित होते हैं और जीवन परिपूर्ण शांति से, परिपूर्ण कर्म से, परिपूर्ण ज्ञान के प्रकाश से भर जाते हैं।

अंततः मैं ध्यान के संबंध में थोड़ी सी बातें आपसे कहना चाहता हूँ, जिससे मनुष्य का अखंड व्यक्तित्व विकसित हो सकता है।

सबसे पहले मैं यह कहना चाहूंगा कि ध्यान कौन-कौन सी बात नहीं है। पहली बात- ध्यान एकाग्रता नहीं है। हमने किताबों में यही पढ़ा है, आम प्रवचनों में यही सुनते हैं कि ध्यान का अर्थ एकाग्रता है। इससे झूठी बात बहुत कम कही गई है, ध्यान एकाग्रता नहीं है। एकाग्रता तो मन की ही शक्ति है। एकाग्रता तो मन की ही शक्ति का प्रयोग है। ध्यान तो मन के बाहर चलने का नाम है। एकाग्रता तो मन के भीतर ही, मन के समस्त शक्तियों को केन्द्रित कर लेने का नाम है। एकाग्रता मन का ही रूप है। ध्यान मन के बाहर चलने का प्रयोग है। इसलिए पहली बात, ध्यान एकाग्रता नहीं है। एकाग्रता के प्रयोग से शक्तियां अर्जित हो सकती हैं, लेकिन शक्तियों से शांति का क्या संबंध? शक्तियों से शांति का कोई संबंध नहीं है।

रामकृष्ण के आश्रम में एक बार एक साधु आया। आश्रम में खबर पहुंची कि सुना है वह साधु गंगा पर खड़ाऊ पहन कर चलता है। रामकृष्ण ने कहा, मैं भी देखूं, मैं भी दर्शन करूं। रामकृष्ण घाट पर गए, वह साधु बैठा था। रामकृष्ण ने कहा, मेरे मित्र मैंने सुना है कि तुम गंगा पर खड़ाऊ के बल चलते हो, नाव की आपको कोई जरूरत नहीं! वह बोला, हाँ। फिर रामकृष्ण ने पूछा, कहाँ कितने दिन में यह सीखा? उसने कहा कि 18 वर्ष एकाग्रता का प्रयोग किया, तब। रामकृष्ण हंसने लगे। वह बोला हंसते क्यों हो? बोले 18 वर्ष में दो कौड़ी की कला सीखी। हम तो दो पैसे देकर नदी पार हो जाते हैं।

रामकृष्ण ने जो कहा वह समस्त एकाग्रता के प्रयोग के लिए सत्य है। एकाग्रता से, जिस को योग ने सिद्धियाँ कहा है, वे उपलब्ध हो सकती हैं, मन की आलौकिक शक्तियां जाग सकती हैं। मन की तलहटी में छिपी हुईं बहुत सी रूपांतरित संभावनाएं हैं शक्तियों की, वे जाग जाएंगी। लेकिन उनको जगा लेने से आत्मिक उपलब्धि का कोई संबंध नहीं है। समस्त योग शास्त्रों ने कहा है जो उनमें उलझ जाएगा, वह भटक जाता है। इसलिए एकाग्रता से शक्तियां जाग सकती हैं। ध्यान तो शांति को जगाने का उपाय है।

एकाग्रता ध्यान नहीं है, फिर एकाग्रता ध्यान नहीं है तो ध्यान क्या है?

ध्यान तल्लीनता भी नहीं है। हम आम लोग तल्लीनता को भी ध्यान समझ लेते हैं। अगर आप किसी मंदिर में भजन गा रहे हैं और तल्लीन हो गए, या कहीं सितार बज रहा हो और तल्लीन हो गए, तो आप समझते हैं कि ध्यानस्थ हो गए? तल्लीन होना मूर्च्छित होना है। संगीत की तरंगों में भूल जा सकते हैं अपने को, लेकिन अपने को भूल जाना ध्यान नहीं है। ध्यान तो अपने को पूरी तरह जान लेना है। ध्यान आत्मविस्मरण नहीं है, ध्यान तो परिपूर्ण आत्मस्मृति से भर जाना है। जिस क्षण मैं पूरी तरह अपने प्रति जाग गया हूँ, उस क्षण मैं ध्यान में हूँ। इसलिए तल्लीनता और मूर्च्छा के प्रयोग, जो कि धर्म के नाम से बहुत-बहुत रूपों में प्रचलित रहे हैं, वे सब के सब मेरी दृष्टि में गलत साबित होते हैं। जहां भी आप मूर्च्छित होने का प्रयोग कर रहे हैं, वहां आप केवल अपनी चिंता से, अपनी परेशानी से, अपने दुःख से थोड़ी देर के लिए छुटकारा ले रहे हैं, पलायन कर रहे हैं। थोड़ी देर को भूल जाएंगे, कि किसी मंदिर में, प्रार्थना में, पूजा में, और उस भूल जाने से दःुख मिटता नहीं है। वापिस बाहर आकर दुःख, दुःख का दुःख बना रहेगा। उस मूर्च्छा में एक तरह के नशे का प्रयोग है, इससे ज्यादा नहीं है। वह एक तरह का नशा है। एक तरह की मूर्च्छा है, इससे ज्यादा नहीं है। इसलिए ध्यान तल्लीनता भी नहीं है।

फिर ध्यान क्या है?

ध्यान ना एकाग्रता है, ध्यान ना तल्लीनता है, ध्यान तो जागरूकता है। चित्त की समस्त वृत्तियों के प्रति, शरीर की समस्त क्रियाओं के प्रति जाग जाना ध्यान है। यह जागरण आत्मसाक्षी होने के प्रयोग होने से उपलब्ध होता है। हम अपनी क्रियाओं में अजागरूक हैं। आप चलते हैं, आपको होश नहीं होता। आप बैठते हैं, आपको होश नहीं होता। आपके मन में विचार दौड़ते हैं उनका होश नहीं होता। समस्त क्रियाएं हमारे मन की, या शरीर की मूर्च्छित हो रही हैं। इन क्रियाओं के प्रति जागरूक होना, इन क्रियाओं के प्रति साक्षी बन जाना, इनके दृष्टा बन जाना, इनके देखने वाले बन जाना--यही ध्यान का अर्थ है। ध्यान का अर्थ है, आत्म-जागरूकता। ध्यान का अर्थ है साक्षी चैतन्य। यह साक्षी चैतन्य कैसे उपलब्ध होगा? यह साक्षी चैतन्य बहुत सरलता से उपलब्ध हो सकता है। अगर कोई थोड़ा सा प्रयोग करे और अपने जीवन की कोई थोड़ी सी क्रियाएं चुन ले, और उनके प्रति जागरूक होने लगे और उन्हें जागकर करने लगे।

शायद हमें ठीक से समझ में न आए कि जागने का क्या अर्थ है? एक छोटी सी कहानी कहता हूं उससे जागने का अर्थ समझ में आ सकेगा। यह कहानी मुझे बहुत प्रिय रही है। न मालूम कितनी बार इसे कहता हूं। फिर भी लगता है कि यह कहने जैसी है और इससे समझ में आ सकेगा कि जागना किस चीज को कहें?

गौतम बुद्ध के पास एक बार एक युवक दीक्षित हुआ। वह एक राजकुमार था। वह बहुत बड़ी संपत्ति का मालिक था। बुद्ध के पास दीक्षित होकर वह भिक्षु हुआ। बुद्ध ने दूसरे दिन जब वह भिक्षा के लिए जाने लगा, तो उससे कहा, भिक्षु, तुम अभी भिक्षा मांगने में निष्णात नहीं हुए। मैंने इसलिए तुम्हारे लिए एक श्राविका को कहा है, तुम उसके घर भिक्षा माँगने चले जाना। वहीं भोजन कर लेना। और जब तक भिक्षा माँगना तुम्हें ना आ जाए, तब तक तुम श्राविका के घर ही जाकर भोजन कर आना।

वह भिक्षु श्राविका के घर भोजन करने गया। लम्बा रास्ता था विहार से उसके घर का। बीच मार्ग पर उसे बहुत से स्मरण आए, स्वाभाविक है, आप होते, हम होते तो हमें भी आते। कल तक राजकुमार था, बड़ी संपत्ति का मालिक था। वे सारी स्मृतियां उसके मन में गूंजने लगीं। सब चलचित्र की तरह उसके भीतर चलने लगा। एक-एक चित्र उभरने लगे। राह भर, पूरी राह भर, वह चित्रों के बीच में घिरा रहा। वह चलता रहा और चित्र उभरते गए। प्रीतिकर, अप्रीतिकर, सुखद स्मृतियां, दुःखद स्मृतियां। घर के पास पहुंचते-पहुंचते उसे स्मरण आया, रोज वह अपने घर में, जहां पत्नी थी, माँ थी, सब थे, जो उसे प्रीतिकर भोजन था वह उसे मिलता था। जो उसे चाह होती थी, मिलता था। आज था अपरिचित द्वार, अपरिचित जन, न मालूम रूखा-सूखा क्या मिलेगा? उसे वे सब भोजन भी याद आए जो उसे प्रिय थे।

उसने द्वार में प्रवेश किया, भोजनालय में जा कर बैठा। बहुत हैरान हुआ! उसकी थाली पर वे सारे के सारे भोजन उपस्थित थे जिनकी उसे सदा चाह रही थी। वह बहुत हैरान हुआ। फिर सोचा, संयोग की बात होगी। शायद आज यही भोजन बने होंगे घर में, ऐसा मान कर वह भोजन करने लगा। भोजन जब चुकने को थे पूरे कि उसे स्मरण आया, ख्याल आया कि रोज तो भोजन के बाद दो क्षण विश्राम कर लेता था, लेकिन आज तो पराया घर, और अब तो मैं भिक्षु, विश्राम तो करना नहीं होगा। तभी उस श्राविका ने जो सामने ही खड़ी पंखा झलती थी, उसने कहा भंते, अगर भोजन के बाद दो क्षण विश्राम कर लें तो बड़ी कृपा होगी, मैं कृतार्थ हो जाउंगी।

उस भिक्षु ने सोचा, फिर उसे ख्याल आया कि क्या बात है, फिर सोचा शायद शिष्टाचार में घर आए हुए अतिथि को भोजन के बाद विश्राम करने को कहते हैं, इसमें कोई खास, कोई विशेष बात नहीं है। चटाई डाल दी गई। वह विश्राम को लेट गया, और लेटते ही उसे ख्याल आया कि अब न तो अपना कोई मकान है, न कोई साया है, न अपनी कोई शय्या है। अब तो आकाश ही अपना साया है, जमीन अपनी शय्या है। वह ऐसा सोच रहा था तभी श्राविका ने जो पीछे खड़ी थी, उसने कहा भंते, किसका मकान है, किसकी शय्या है, किसका साया है? सब, जैसे आप, वैसे ही हम सब भी हैं।

वह उठ कर बैठ गया। उसे लगा अब संयोग नहीं हो सकता है। उसने बैठ कर कहा, मैं कुछ हैरान हूं, क्या मेरे विचार पढ़े जा रहे हैं?

उस श्राविका ने कहा कि भगवान के निकट रहकर, दूसरे के मन में थोड़ा सा झांक सकूं, ऐसी क्षमता मुझे उपलब्ध हुई है।

भिक्षु के हाथ-पैर कंप गए। और मेरा मानना है कि आप में से कोई भी होता तो कंप जाते। वह उठ कर खड़ा हो गया। उसने कहा, अब मैं जाता हूं। श्राविका ने कहा, आप तो विश्राम करने को लेटे थे उठ भी गए? वह बोला कि मैं जाता हूं। उसके तो माथे पर पसीना हो आया। वह लौटा। उसने बुद्ध से जाकर कहा, उस द्वार पर अब मैं दुबारा नहीं जाउंगा भगवन्! वहां मेरे विचार पढ़े गए हैं। तो बुद्ध ने कहा कि इसमें घबड़ाने की क्या बात है? जाओ, विचार पढ़ने दो। वह बोला आप कहते हैं कि घबड़ाने की क्या बात है? जब श्राविका को मैंने देखा, मेरे मन में वासना का जहर भी उठा था। मेरे मन में वासना से भरे हुए कुछ अशुद्ध विचार भी उठे थे, वे भी पढ़ लिए गए होंगे। जहां मैं आज सम्मानित हुआ, कल वहां से धक्के देकर निकाला जाऊं, यह तो शोभा नहीं देता। फिर मैं कल उस श्राविका के सामने कैसे खड़ा होउंगा? उसने उन सांपों को भी तो देख लिया होगा जिन्होंने मेरे भीतर लहरें ली हैं।

बुद्ध ने कहा, उसने सब देख लिया। लेकिन तुम होश से भरे जाना। अपने विचारों को देखते जाना। क्या उठता है? कौन आता मन में, कौन जाता? कौन यात्री विचार की यात्रा करता है मन पर, उसे तुम चुपचाप देखते जाना, और कुछ न करना। न कोई दमन, न कोई संघर्ष, न कोई विरोध, न कोई बीच में छेड़खानी। तुम तो

चुपचाप, जो भी यात्री मन पर से निकले, विचार के, कि वासना के, विकार के, उनको चुपचाप देखते हुए चले जाना। तुम साक्षी होकर चले जाना। फिर लौट कर बता देना, तुमने क्या-क्या देखा है?

उस भिक्षु ने इंकार तो बहुत किया, लेकिन बुद्ध राजी नहीं हुए। उन्होंने कहा तुम्हें भिक्षु रहना है मेरा? संघ में रहना है तुम्हें? तो उसी द्वार जाना होगा। नहीं रहना, तुम जा सकते हो।

मजबूरी थी, उस भिक्षु को वहीं जाना पड़ा। मैं सोचता हूं वह कैसे गया होगा? मेरे सामने उसका चित्र साफ दिखाई देता है। वह विहार से निकला होगा। उसकी एक-एक क्रिया के प्रति सचेत रहा होगा। उसने होश जगाए रखा होगा। कौन उठ रहा है विचार? कौन भीतर झांकता है? कौन सिर उठाता है? कौन-सा धुआं पकड़ लेता है? वह देखता हुआ गया। वह मार्ग पर सचेत था, जागरूक था, विवेकयुक्त था, अमूर्च्छित था। वह अमूर्च्छित, जागृत, सीढ़ियां चढ़ा उसके मकान की, भीतर प्रवेश किया। श्राविका को देखा। भोजन को बैठा। बहुत हैरान हुआ! एक भी विचार नहीं उठ रहा था। बहुत हैरान हुआ, एक भी विकार दिखाई नहीं पड़ रहा था, सन्नाटा था। वह जागा हुआ था, सब सन्नाटा था। उसने भोजन किया। उसने एक-एक कौर संभाल कर उठाया। वह उठा, श्राविका से विदा ली। वापस लौटा।

आकर वह बुद्ध के पैरों में गिर पड़ा। उसने कहा था, मेरे प्रभु, तुमने हमें मार्ग दे दिया। आज मैं जागा हुआ गया तो मैंने तो एक भी विचार पाया नहीं। मैंने तो एक भी विकार नहीं पाया। मैं तो हैरान हो गया। मैं तो अद्‌भुत आनंद से भर गया हूं।

बुद्ध ने कहा, मेरे मित्र, तुम्हारी ही मूर्च्छा में मन है। तुम्हारे जाग जाने में मन की मृत्यु है। हम जब तक अपने मन के प्रति मूर्च्छित हैं, तब तक मन की सत्ता है। जिस क्षण हम मन के प्रति जाग जाते हैं, मन उसी क्षण, तत्क्षण विसर्जित हो जाता है। अगर मैं ठीक से कहूं, दूसरी तरह से, तो यूं कहूंगा कि जैसे अंधेरे की कोई सत्ता नहीं होती, वह केवल प्रकाश के ना होने का नाम है। वैसे ही मन की कोई सत्ता नहीं है, वह केवल ध्यान के, जागृति के, न होने का नाम है। प्रकाश के आते ही वहां अंधेरा नहीं पाया जाता, वैसे ही ध्यान के, जागृति के आते ही, मन नहीं पाया जाता है। मन से मुक्त हो जाना, ध्यान में उतर जाना है। ध्यान में उतर जाना आत्मजागरण से भर जाना है। आत्मजागृति से भरते ही अहंकार, विचार, वासनाएं, कर्ता का बोध, आकांक्षाएं, सब विसर्जित हो जाती हैं। वे बीमारियां अलग-अलग नहीं हैं, और एक ही औषधि से समाप्त हो जाती हैं।

मनमुक्ति समस्त योग का केन्द्र है। उसके सधते ही भक्ति, और ध्यान, और कर्म, सहज ही प्रस्फुटित हो जाते हैं। इसलिए अनेकांत साधना, ध्यान योग की साधना है। यह अखण्ड जीवन साधना, ध्यानयोग की साधना है। ध्यान के माध्यम से हमसे पूर्व न मालूम कितने लोग परम आनंद को उपल्बध हुए हैं। मैं भी हो सकता हूँ, आप भी हो सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति जो जीवित है, परम आनंद और शांति का साझीदार है, भागीदार है, हकदार है, मालिक हो सकता है। अगर आपने ही ना चाहा तो बात अलग है। और अगर आपने चाहा और आकांक्षा की लौ जलाई, और थोड़ा-सा जाग कर प्रयास किया, तो वह घटित हो जायेगा, जिसके बिना जीवन व्यर्थ है, जिसके बिना जीवन मृत्यु-तुल्य है। और जिसके घटते ही सब अमृत, सब आनंद हो जाता है।

तो अंततः प्रभु से यह प्रार्थना करता हूँ कि हम सब के भीतर उस लौ को जलाएं, उस प्यास को उकसाएं, उस आकांक्षा को प्रज्वलित करें, जिस आग में जलकर सब तरफ अंधेरा छंट जाए और प्रकाश की, आनंद की उपलब्धि हो सके। और जिसके पा लेने से, जिसके पाने के लिए हम हैं, और जिसके पा लेने पर सब दौड़, सब दुःख विसर्जित हो जाते हैं।

ये थोड़ी-सी बातें जो मैंने आपसे कहीं, मेरी बातों को बड़े प्रेम से आपने सुना, और बहुत प्रेम से अपने भीतर जाने दिया, बहुत शान्ति से उनको अपना अतिथि बनाया है, उसके लिए बहुत-बहुत अनुगृहित हूं। अंत में मेरे धन्यवाद और मेरे प्रणाम स्वीकार करें!